जैन योग : एक चिन्तन

देवेन्द्र मुनि शास्त्री

भारतीय संस्कृति में योग का अत्यधिक महत्व रहा है। अतीत काल से ही भारत के मूर्धन्य मनीषीगण योग पर चिंतन, मनन और विश्लेषण करते रहे हैं, क्योंकि योग से मानव जीवन पूर्ण विकसित होता है। मानव जीवन में शरीर और आत्मा इन दोनों की प्रधानता है। शरीर स्थूल है और आत्मा सूक्ष्म है। पौष्टिक और पथ्यकारी पदार्थों के सेवन से तथा उचित व्यायाम आदि से शरीर हृष्ट-पुष्ट और विकसित होता है; किन्तु आत्मा का विकास योग से होता है। योग से काम, क्रोध, मद, मोह आदि विकृतियाँ नष्ट होती हैं, आत्मा की जो अनन्त शक्तियाँ आवृत हैं वे योग से अनावृत होती हैं और आत्मा की ज्योति जगमगाने लगती है।

आत्म-विकास के लिए योग एक प्रमुख साधन है। उसका सही अर्थ क्या है, उसकी क्या परम्परा है, उसके सम्बन्ध में चिन्तक क्या चिंतन करते हैं उनका किस प्रकार का योगदान रहा है आदि पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

योग शब्द 'युज्' धातु और 'घञ' प्रत्यय मिलने से बनता है। 'युज्' धातु दो हैं, जिनमें से एक का अर्थ है संयोजित करना, जोड़ना[1] और दूसरी का अर्थ है मन की स्थिरता, समाधि[2]। प्रश्न यह है कि भारतीय योगदर्शन ने इन दोनों अर्थों में से किसे अपनाया है? उत्तर में निवेदन है कि कितने ही विज्ञों ने 'योग' का जोड़ने के अर्थ में प्रयोग किया है तो कितने ही विज्ञों ने समाधि के अर्थ में। आचार्य पातंजलि ने 'चित्तवृत्ति के विरोध को योग' कहा है।[3] आचार्य हरिभद्र ने 'जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म-मल नष्ट होता है और मोक्ष के साथ संयोग होता है उसे योग कहा है।[4] उपाध्याय यशोविजयजी ने भी योग की वही परिभाषा की है।[5] बौद्ध चिन्तकों ने योग का अर्थ समाधि किया है।[6]

योग्य के बाह्य और आभ्यन्तर ये दो रूप हैं। साधना में चित्त का एकाग्र होना या स्थिर चित्त होना यह योग का बाह्य रूप है। अहंभाव, ममत्व भाव आदि मनोविकारों का न होना योग का आभ्यन्तर रूप है। कोई प्रयत्न से चित्त को एकाग्र भी कर ले पर अहंभाव और ममभाव प्रभृति मनोविकारों का परित्याग नहीं करता है तो उसे योग की सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। वह केवल व्यावहारिक योग साधना है किन्तु पारमार्थिक या भावयोग साधना नहीं है। अहंकार और ममकार से रहित समत्वभाव की साधना को ही गीताकार ने सच्चा योग कहा है।[7]

वैदिक परम्परा का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद है। उसमें आधिभौतिक और आधिदैविक वर्णन ही मुख्य रूप से हुआ है। ऋग्वेद में योग शब्द का व्यवहार अनेक स्थलों पर हुआ है।[8] किन्तु वहाँ पर योग का अर्थ ध्यान और समाधि नहीं हैं पर योग का

---

१. युजृपी योगे-गण ७ हेमचन्द्र धातुपाठ

२. युजिच समाधौ-गण४, हेमचन्द्र धातुपाठ

३. योगश्चित्तवृत्तिनिरोध : पातंजल योगसूत्र पा १. स. २

४. (क) मोक्खेव जोयणाओ जोगो--योगविंशिका गा-१

(ख) अध्यात्मं भावनाऽऽध्यानं समता वृत्ति संक्षयः
मोक्षेण योजनाद्योग एवं श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥
योगबिन्दु ३१

५. मोक्षेण योजनादेव योगोह्यत्र निरुच्यते। द्वात्रिंशिका

६. संयुक्त निकाय ५-१० विभंग ३१७-१८

७. "योगस्य कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥" गीता २/४८

८. ऋग्वेद--१, ५, ३; १--१८--७; १--३४--८; २--८--१; ९--५८--३; १०--१६६--५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ जोड़ना, मिलाना और संयोग करना है। उपनिषदों में भी जो उपनिषद् बहुत ही प्राचीन हैं, उनमें भी आध्यात्मिक अर्थ में योग शब्द व्यवहृत नहीं हुआ है, किन्तु उत्तरकालीन कठोपनिषद,[9] श्वेताम्वर उपनिषद[10] आदि में आध्यात्मिक अर्थ में योग शब्द का प्रयोग हुआ है। गीता में कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने योग का खासा अच्छा निरूपण किया है।[11] योग वासिष्ठ ने भी योग पर विस्तार से चर्चा की है।[12] ब्रह्मसूत्र में भी योग पर खण्डन और मण्डन की दृष्टि से चिन्तन किया,[13] किन्तु महर्षि पातंजलि ने योग पर जितना व्यवस्थित रूप से लिखा उतना व्यवस्थित रूप से अन्य वैदिक विद्वान् नहीं लिख सके। वह बहुत ही स्पष्ट तथा सरल है, निष्पक्ष भाव से लिखा हुआ है। प्रारंभ से प्रान्त तक की साधना का एक साथ संकलन-आकलन है। पातंजल योगसूत्र की तीन विशेषताएँ हैं—प्रथम, वह ग्रंथ बहुत ही संक्षेप में लिखा गया है, दूसरी विशेषता, विषय की पूर्ण स्पष्टता है और तीसरी विशेषता अनुभव की प्रधानता है। प्रस्तुत ग्रंथ चार पाद में विभक्त है। प्रथम पाद का नाम समाधि है, द्वितीय का नाम साधन है, तृतीय का नाम विभूति है और चतुर्थ का नाम कैवल्यपाद है। प्रथम पाद में मुख्य रूप से योग का स्वरूप, उसके साधन तथा चित्त को स्थिर बनाने के उपायों का वर्णन है। द्वितीय पाद में क्रियायोग, योग के आठ अंग, उनका फल और हेय, हेय-हेतु, हान और हानोपाय इन चतुर्व्यूह का वर्णन है। तृतीय पाद में योग की विभूतियों का विश्लेषण है। चतुर्थपाद में परिणामवाद का स्थापन, विज्ञानवाद का निराकरण और कैवल्य अवस्था के स्वरूप का चित्रण है।

भागवत पुराण में भी योग पर विस्तार से लिखा गया है।[14] तांत्रिक सम्प्रदाय वालों ने भी योग को तन्त्र में स्थान दिया है। अनेक तंत्रग्रंथों में योग का विश्लेषण उपलब्ध होता है। महानिर्वाण तन्त्र[15] और षट्चक्रनिरूपण[16] में योग पर विस्तार से प्रकाश डाला है। मध्यकाल में तो योग पर जन-मानस का अत्यधिक आकर्षण बढ़ा जिसके फलस्वरूप योग की एक पृथक् सम्प्रदाय बनी जो हठयोग के नाम से विश्रुत है, जिसमें आसन, मुद्रा, प्राणायाम प्रभृति योग के बाह्य अंगों पर विशेष बल दिया गया। हठयोग प्रदीपिका, शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, गोरक्षपद्धति, गोरक्षशतक, योग तारावली, बिन्दुयोग, योगबीज, योग कल्पद्रुम आदि मुख्य ग्रन्थ हैं। इन ग्रंथों में आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुम्भक, पूरक, रेचक आदि बाह्य अंगों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। घेरण्ड संहिता में तो आसनों की संख्या अत्यधिक बढ़ गयी है।

गीर्वाण गिरा में ही नहीं अपितु प्रान्तीय भाषाओं में भी योग पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। मराठी भाषा में गीता पर ज्ञानदेव रचित ज्ञानेश्वरी टीका[17] में योग का सुन्दर वर्णन है। कबीर का बीजक ग्रंथ योग का श्रेष्ठ ग्रंथ है।

बौद्ध परम्परा में योग के लिए समाधि और ध्यान शब्द का प्रयोग मिलता है। बुद्ध ने अष्टांगिक मार्ग को अत्यधिक महत्व दिया है। बोधित्व प्राप्त करने के पूर्व श्वासोच्छवास निरोध की साधना प्रारम्भ की थी।[18] किन्तु समाधि प्राप्त न होने से उसका परित्याग कर अष्टांगिक मार्ग को अपनाया।[19] अष्टांगिक मार्ग में समाधि पर विशेष बल दिया गया है। समाधि या निर्वाण प्राप्त करने के लिए ध्यान के साथ अनित्य भावना को भी महत्व दिया है। तथागत बुद्ध ने कहा—भिक्षो! रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, संज्ञा अनित्य है, संस्कार अनित्य है, विज्ञान अनित्य है। जो अनित्य है वह दुःखप्रद है। जो दुःखप्रद है वह अनात्मक है जो अनात्मक है, मेरा नहीं है। वह मैं नहीं हूँ। इस तरह संसार के अनित्य स्वरूप को देखना चाहिए।"

जैन आगम साहित्य में योग शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु योग शब्द का अर्थ जिस प्रकार वैदिक और बौद्ध परम्परा में हुआ है उस अर्थ में योग शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वहां योग शब्द का प्रयोग मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के लिए हुआ है। वैदिक और बौद्ध परम्परा में जिस अर्थ को योग शब्द व्यक्त करता है उस अर्थ को जैन परम्परा में तप और ध्यान व्यक्त करते हैं।

ध्यान का अर्थ है मन, वचन और काया के योगों को आत्म-चिंतन में केन्द्रित करना। ध्यान में तन, मन और वचन को स्थिर करना होता है। केवल सांस लेने की छूट रहती है। सांस के अतिरिक्त सभी शारीरिक क्रियाओं को रोकना अनिवार्य है। सर्व प्रथम शरीर की विभिन्न प्रवृत्तियां को रोकी जाती हैं, वचन को नियन्त्रित किया जाता है। और उसके पश्चात् मन को आत्म स्वरूप में एकाग्र किया जाता है। प्रस्तुत साधना को हम द्रव्य साधना और भाव साधना कह सकते हैं। तन और वचन की साधना, द्रव्य साधना और मन की साधना भाव साधना है।

जैन परम्परा में हठयोग को स्थान नहीं दिया गया है और न प्राणायाम को आवश्यक माना है। हठयोग के द्वारा जो नियन्त्रण किया जाता है उससे स्थायी लाभ नहीं होता और न आत्मशुद्धि होती है और न मुक्ति ही प्राप्त होती है। स्थानांग, समवायांग, भगवती, उत्तराध्ययन आदि आगम साहित्य में ध्यान के लक्षण और उनके प्रभेदों पर प्रकाश डाला है। आचार्य

---

९. कठोपनिषद् २–६–११; १–२–१२

१०. श्वोतश्वतर उपनिषद् ६ और १३

११. देखिए गीता ६ और १३ वां अध्याय

१२. देखिए योग वासिष्ठ —छः प्रकरण

१३. ब्रह्मसूत्र भाष्य २–१–३

१४. भागवत पुराण, स्कंध, ३ अध्याय २८,; स्कंध ११, अध्याय १५, १९, २०

१५. महानिर्वाण तंत्र : अध्याय ३ और (Tantrik texts) में प्रकाशित

१६. षट् चक्र निरूपण, पृष्ठ ६०, ६१, ८२, ९०, ९१ और १३४

१७. ज्ञानेश्वरी टीका—छठा अध्याय,

१८. अंगुत्तर निकाय, ६३,

१९. संयुक्त निकाय ५, १०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति में ध्यान पर विशद विवेचन किया है। आचार्य उमास्वाती ने तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान पर चिन्तन किया है। किन्तु उनका चिंतन आगम से पृथक् नहीं है। जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण ने 'ध्यान शतक' की रचना की। जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण जैन ध्यान पद्धति के मर्मज्ञ ज्ञाता थे। उन्होंने स्वयं ध्यान की गहराई में जाकर अनुभव का अमृत प्राप्त किया उसे इस ग्रंथ में उद्ंकित किया है।

आचार्य हरिभद्र ने जैन-योग पद्धति में नूतन परिवर्तन किया। उन्होंने योगबिंदु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका, योगशतक, और षोडशक प्रभृति अनेक ग्रंथों का निर्माण किया। इन ग्रंथों में जैन परम्परा के अनुसार योग साधना का विश्लेषण करके ही संतुष्ट नहीं हुए, अपितु पांतजल योग सूत्र में वर्णित योग साधना और उनकी विशेष परिभाषाओं के साथ जैन–योग साधना की तुलना की है और उसमें रहे हुए साम्य को बताने का प्रयास किया है।[20]

आचार्य हरिभद्र के योग ग्रंथों की निम्न विशेषताएं हैं—

१. कौन साधक योग का अधिकारी है ? और कौन योग का अनधिकारी है ?
२. योग का अधिकार प्राप्त करने के लिए पहले की जो तैयारी अपेक्षित है उस पर चिंतन किया है ?
३. योग्यता के अनुसार साधकों का विभिन्न दृष्टि से विभाग किया है। और उनके स्वरूप और अनुष्ठान का भी प्रतिपादन किया गया है।
४. योग साधना के भेद-प्रभेदों का और साधन का वर्णन है।

योगबिंदु में योग के अधिकारी अपुनर्बन्धक, सम्यक्-दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति ये चार विभाग किये। और योग की भूमिका पर विचार करते हुए अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय ये पांच प्रकार बताये। योगदृष्टिसमुच्चय में ओघ दृष्टि और योग दृष्टि पर चिन्तन किया है। इस ग्रंथ में योग के अधिकारियों को तीन भागों में विभक्त किया है–प्रथम भेद में प्रारंभिक अवस्था से विकास की अंतिम अवस्था तक की भूमिकाओं के कर्म-मल के तारतम्य की दृष्टि से मित्रा, तारा, बला, दीप्ता, स्थिरता, कान्ता, प्रभा और परा में आठ विभाग किये हैं। ये आठ विभाग पातंजलि योग सूत्र के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि तथा बौद्ध परम्परा के खेद, उद्वेग आदि अष्ट पृथक् जनचित दोष परिहर और अद्वेष, जिज्ञासा आदि अष्ट योग गुणों के प्रकट करने के आधार पर किये गये हैं। योग शतक में योग के निश्चय और व्यवहार ये दो भेद किये गये हैं। योगविंशिका में धर्म साधना के लिए की जाने वाली क्रियाओं को योग कहा है और योग की, स्थान, ऊर्ज, अर्थ, आलंबन और अनालंबन ये पाँच भूमिकाएँ बतायी हैं।

आचार्य हरिभद्र के पश्चात् जैन योग के इतिहास के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं आचार्य हेमचन्द्र जिन्होंने योगशास्त्र नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का निर्माण किया है। इस ग्रंथ में पातंजलि योग सूत्र के अष्टांग योग की तरह श्रमण तथा श्रावक जीवन की आचार साधना को जैन आगम साहित्य के प्रकाश में व्यक्त किया है। इसमें आसन, प्राणायाम आदि का भी वर्णन है। पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का भी वर्णन किया है और मन की विक्षुप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन इन चार भेदों का भी वर्णन किया है जो आचार्य की अपनी मौलिक देन है।

आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् आचार्य शुभचन्द्र का नाम आता है। ज्ञानार्णव उनकी महत्त्वपूर्ण रचना है। सर्ग २९ से ४२ तक में प्राणायाम और ध्यान के स्वरूप और भेदों का वर्णन किया हैं। प्राणायाम आदि से प्राप्त होने वाली लब्धियों पर परकाय-प्रवेश आदि के फल पर चिन्तन करने के पश्चात् प्राणायाम को साध्यसिद्धि के लिए अनावश्यक और अनर्थकारी बताया है।

उसके पश्चात् उपाध्याय यशोविजयजी का नाम आता है। वे सत्योपासक थे। उन्होंने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगावतार बत्तीसी, पातंजल योगसूत्र वृत्ति, योगविंशिका टीका, योग दृष्टि नीसज्झाय आदि महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। अध्यात्मसार ग्रंथ के योगाधिकार और ध्यानाधिकार प्रकरण में गीता एवं पातंजलि योग सूत्र का उपयोग करके भी जैन परम्परा में विश्रुत ध्यान के विविध भेदों का समन्वयात्मक वर्णन किया है। अध्यात्मोपनिषद में शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रियायोग और साम्ययोग के संबंध में चिंतन करते हुए योगवाशिष्ठ और तैत्तरीय उपनिषदों के महत्त्वपूर्ण उद्धरण देकर जैन दर्शन के साथ तुलना की है। योगावतार बत्तीसी में पातंजल योगसूत्र में जो योग साधना का वर्णन है उसका जैन दृष्टि से विवेचन किया है और हरिभद्र के योगविंशिका और षोडशक पर महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखकर उसके रहस्यों को उद्घाटित किया है। जैन दर्शन की दृष्टि से पातंजल योग सूत्र पर भी एक लघु वृत्ति लिखी है। इस तरह यशोविजयजी के ग्रंथों में मध्यस्थ भावना, गुणग्राहकता व समन्वय दृष्टि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

सारांश यह है कि जैन परम्परा का योग साहित्य अत्यधिक विस्तृत है। मूर्धन्य मनीषियों ने उस पर जमकर लिखा है। आज पुनः योग पर आधुनिक दृष्टि से चिंतन ही नहीं किन्तु जीवन में अपनाने की आवश्यकता है। यहां बहुत ही संक्षेप में मैंने अपने विचार व्यक्त किये हैं। अवकाश के क्षणों में इस पर विस्तार से लिखने का विचार है। □

---

२०. समधिरेष एवान्यैः संमज्ञोऽभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्यर्थ ज्ञानतरस्तथा ।।
असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिगीयते परैः।
निरुद्धशेष वृत्यादि तत्स्वरूपानुवेधक ।।
—योगबिंदु ४१९–४२०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org